Chap-6

षष्ठ अध्याय

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी के कथा–साहित्य की प्रासंगिकता

हिन्दी कथा-लेखन के क्षेत्र में वाल्मीकि त्रिपाठी एक ऐसा स्थापित नाम है, जिसके कथा-लेखन की बहुआयामी दृष्टियाँ अनेकानेक औपन्यासिक कृतियों से स्पष्ट हुई है। वैसे, तो त्रिपाठी जी का मुख्य औपन्यासिक स्वर ऐतिहासिक कथाओं के संयोजन से जुड़ा है, किन्तु इसके साथ उन्होंने अपने सामाजिक सरोकार को भी विभिन्न पहलुओं से कथांकित किया है। त्रिपाठीजी विशेष रुप से तो उपन्यासकार ही हैं, किन्तु साथ में कुछ सफल नाटकों का भी सृजन किया है, जो पठनीय भी हैं, और मंचीय सम्भावनाओं से भी जुड़े हुए हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से आधुनिक, सामाजिक, संरचना के प्रति तथा परवर्तित राजनीतिक मूल्यों के प्रति उनका एक तटस्थ भाव सर्वत्र देखा जा सकता है। त्रिपाठी जी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से समसामयिक समस्याओं को स्पर्श तो किया है, किन्तु कहीं भी अपने मंतव्य को आरोपित करने अथवा पूर्वाग्रही हठधर्मिता को स्थापित करने का धर्म उन्होंने नहीं किया। वैसे, उनका मूल स्वर भारतीय संस्कृति की गौरव गाथाओं को राष्ट्रीयता के भाव-वोध से निम्वाधित करके एक आदर्शवादिता को स्थापित करने का रहा है। मानवीय

सम्वेदनाओं के उत्कर्ष की उदार-भूमि पर रचनाकार का कथ्य सदैव सकारात्मक ही रहा है, जिसमें मनुष्य के स्वाभाविक उदार-भावों को उकेरा गया है। इसमें राष्ट्रवाद, देशभक्ति, कर्त्तव्य, निष्ठा, आस्था, विश्वास, संकल्प, दृढ़ता, गंभीरता, समर्पण, त्याग, बलिदान, करुणा, ममता, प्रेम, उत्सर्ग आदि उदारवादी मनोवृतियों को इससे बल मिला है।

साहित्य में सम्प्रेषण, शक्ति की संलग्नता उसकी प्रभावोनवति को अग्रसर करती है। साहित्य की ये सम्प्रेषणीयता मानवीय प्रकृति के व्यावहारिक और जीवंत पक्ष को साथ में लेकर चलती है, इसमें स्वानुभूतियों का तथ्यात्मक विवेचन और सम्वेदनात्मक भावभूमि की संलग्नता कथ्य को विभावित करती है। त्रिपाठी जी ने अपनी इस सम्वेदनात्मक प्रवृत्ति का प्रदर्शन सामाजिक उपन्यासों की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिक किया है।

त्रिपाठी जी का ऐतिहासिक उपन्यास 'सम्राट अशोक' एक ऐसे व्यक्तित्व की ओजस्वी गाथा को कथांकित करता है, जो युद्धवीर होने के साथ-साथ धर्मवीर भी है। जो पुरुषोचित आक्रोश का वहन करते हुए निष्प्रह भाव से पलायनवादी वृत्ति से जुड़कर विरक्तावस्था को प्राप्त करके युद्ध के निषेध की दृढ़ मानसिकता से जुड जाता है। इसी प्रकार त्रिपाठी जी ने अपने सामाजिक उपन्यासों में जातिवाद, वर्णभेद या अन्य किसी भी प्रकार के संकुचित वर्ग के व्यामोह को स्वीकार न करके एक स्वच्छन्द समाज के उदारवादी चेतना को सामने रखा है, जिसमें आत्मीयता है, स्नेह और अनुराग है, अपनों के प्रति हितचिंतन है, दूसरों के प्रति सम्मोहन है, जहाँ राग और रंग की प्रवाहित पीयुष-धारा पारिवारिक परिवेश में बहती है, जहाँ परोपकार, क्षमा और त्याग की उदार भावनाएँ व्यक्ति से व्यक्ति को जोड़ने का उपक्रम करती है, तथा समाज के विभिन्न पहलुओं एवम् इकाइयों को समन्वित करने की सम्भावनाएँ समायोजित करती है।

त्रिपाठी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में राज्याभिषेक, सम्राट अशोक, दुरभि-सन्धि, महाराज, एक और बेगम, जहाँदारशाह, प्रजाप्रिय प्रजेश, जय-विजय तथा पितामह जैसे

उपन्यास किसी इतिहास रचना के भ्रम को प्रस्तुत करने वाले न होकर तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिवेशजन्य समस्याओं को ही उजागर करते हैं। चूँकि, इतिहास पुरुष लोक-चिन्तन में सर्वसुलभ और सर्वविदित होता है, इसलिए उसके माध्यम से कही गई कोई भी बात पाठक के मन में सरलता से उतर जाती है। ऐतिहासिक उपन्यासों में भी यह तथ्य देखा जा सकता है कि इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों के चरित्रांकन सामयिक संदर्भों से जुड़कर अपनी प्रासंगिकता ज्ञापित करते हैं। इस तरह इन उपन्यासों के माध्यम से जहाँ एक ओर भारतीय इतिहास और संस्कृति के उज्जवल सन्दर्भों को रेखांकित किया जाता है, वहीं दूसरी ओर वर्तमान समाज की विद्रुपताओं, असंगतियों और अनीतियाँ भी रेखांकित होती हैं।

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी ने अपने उपन्यासों में अनेक समसामयिक समस्याएँ उठाई हैं। संघर्ष और टकराव की स्थितियाँ भी दर्शायी हैं, किन्तु उन्होंने कहीं भी अपनी ओर से कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया। पात्रों के द्वारा उठाए गए प्रश्न कहीं भी समाधनित नहीं हुए हैं। 'सत्ता और संघर्ष ' तथा 'सम्राट अशोक' जैसे उपन्यासों में कथाकार ने आज के वैश्विक स्तर पर पनप रहे विश्व-युद्धों की विभिषिकाओं की ओर संकेत किया है। अशोक जो स्वयं युद्ध-वीर था, और युद्धप्रिय भी, किन्तु युद्ध से उत्पन्न विभिषिका और दारुण क्लेश की सृष्टि देखकर वह हताश हो जाता है। वह युद्ध के इन विकट परिणामों से त्रस्त होकर विरक्तावस्था में संन्यास की ओर अग्रसर होता है, और युद्धविहीन तथा आत्मीय भ्रातृत्व से सम्पन्न विश्व की परिकल्पना करता हुआ बुद्धवाद के अहिंसक अभियान से जुड़ जाता है। यहाँ युद्ध से पलायन और शान्ति एवम् सद्भावनापूर्ण वातावरण की संरचना में संलग्न सम्राट अशोक का संपूर्ण वातावरण आज की विषमताओं और यौद्धिक टकरावों की भीषण परिणति से संलग्न जान पड़ता है। 'सम्राट अशोक' में कथ्य भले ही ऐतिहासिक है, किन्तु कथाकार का निश्चित मंतव्य प्रासंगिक भूमि पर समसामयिक संदर्भो से जुड़कर कुछ कहने का है।

'सत्ता और संघर्ष' में सत्ता के प्रति अधिकार प्राप्त करने की होड़ तथा अहम्वादी मानसिकता सर्वत्र आरोपित है, जहॉ बादशाह स्वयं को फरिश्ता या खुदा समझता है। सैय्यद

बंधु की यह युक्ति बड़ी ही सार्थक है - जैसे - "जिसके सिर पर जूता रख दूँ वही बादशाह बन जाए।"[1] यहाँ दो भाई जो बचपन में साथ-साथ रहे हैं, खेलकूद कर साथ-साथ बड़े हुए हैं, माँ के वात्सल्य में दोनों ही सामान्य रुप से निमग्न रहे हैं, वे ही आगे जाकर सत्ता के लिए लालायित होकर एक-दूसरे के जानी दुश्मन बन जाते हैं, वे ही आगे जाकर सत्ता के प्रति अधिकार-प्राप्ति की लालसा तथा व्यक्ति स्वार्थो के तहत सब कुछ हासिल करने की ललक व्यक्ति को आत्माभिमुख बना देता है। वह आत्मपरक या वैयक्तिक लिप्साओं की संतुष्टि के लिए कोई भी जघन्य अपराध करने के लिए तैयार रहता है। अधिकार-लोलुप पुरुष अपने सहोदर भाई के रक्त का प्यासा बन जाता है, और अवसर आने पर वह उसका क्रूरता से वध भी कर देता है। आधुनिक परिवेश में यह तथ्य अत्यंत प्रासंगिक होकर सामने आता है, जब व्यक्ति सत्ता का सौख्य प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार के जघन्य पाप से संलग्न होने के लिए तैयार रहता है। जिस समय वह किसी पद की आकांक्षा में भ्रष्ट आचरणों से अपना रास्ता बनाता है, तब उसके हृदय प्रदेश से करुणा, दया, ममता, उपकार, सहयोग, अनुदान, सहारा, पोषण जैसे उदार भाव तिरोहित हो जाते हैं। क्रूर से क्रूरतम मनोविकार उसे कुछ भी गलत या अवैधानिक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। 'सत्ता और संघर्ष' में डॉ. त्रिपाठी ने पाठक को बहुत समय तक इतिहास प्रसंगों में ही उलझाए रखा है, किन्तु सम्वाद-संयोजना के माध्यम से उसका अभिष्ट कथ्य अचानक सामने आ जाता है।

संघर्ष जब सत्ता के लिए होता है, तो व्यक्ति अपने हर क्रिया-कलाप में असाधारण हो जाता है। अत्याचार, क्रूरता, जघन्यता, अन्याय, अनीति, दुराचरण, अभिशाप जैसे दुर्गुण उसकी मानसिकता में सहज रुप से समाविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार 'महाराज' उपन्यास में महाराज 'हर्ष' के माध्यम से प्रासंगिक ऐसे अनेक प्रश्न खडे किए गए हैं, जो आधुनिक सन्दर्भों में अत्यन्त विचारणीय है। स्मृतियों के रुप में तथा दायित्वों के रुप में व्यक्ति जब थककर हार जाता है, तब वह किसी अन्य विकल्प की तलाश में गलत रास्तों पर बढने के लिए बाध्य हो जाता है, यह तथ्य सत्ताधारी राजकीय परिवेश में भी है, और सामान्य गृहस्थ की साधारण भूमिका में भी। इतिहास के कथ्य को उपन्यास में रुपांतरित करते समय कथाकार अनेक संवेद्य

स्थलों पर अत्यन्त भावुक होकर अपने वर्तमान की विसंगत स्थितियों तक आ जाता है, चाहे 'महाराज' हो या 'विकलांग' अथवा 'एक और बेगम' - रचनाकार सर्वत्र कहीं न कहीं कुछ न कुछ प्रासंगिक प्रसंगों का वाचक रहा ही है। विवाह का दायित्व अभिभावकों का होता था, घर के बड़े लोग पूजा-पाठ कीर्तन में निकाल देते थे, घर के चबूतरे पर बैठकर लोग धार्मिक भावनाओं से संलग्न होकर पूजा-पाठ करते थे। बड़े-बूढ़ों का आदर सम्मान होता था, जैसे - "राजप्रासाद के आसपास का क्षेत्र तो विशेष सुरक्षित रहना चाहिए। प्रहरियों की संख्या बढ़ा दी जाय। प्रहरियों के इस वर्ग विशेष को आप सीधे अपने नियन्त्रण में रखें.... मैं पिता जी की सेवा में जा रहा हूँ, आप कुछ समय विशेष ध्यान रखें। आस-पास कहीं वह छुपा न हो।"[2] हिन्दुओं में सहोदर भाई के प्रति आत्मीय स्नेह और लगाव देखा जा सकता है, किन्तु मुसलमानों में सत्ता का अधिकार अर्जित करने के लिए भाई-भाई का खून भी कर देता था। जैसे - "भइया ठीक ही तो कह रहे हैं। जिसका छोटा भाई काम के योग्य हो, उसे किसी भी उत्तरदायित्व के वहन करने की क्या आवश्यकता। भइया का वरदहस्त मेरे सिर पर बना रहे, मैं इससे भी गुरुतर भार वहन कर लूँगा।"[3] ईश्वर के प्रति अनन्त आस्था और विश्वास सर्वत्र देखा जा सकता है। माँ, बहन, भाई, पिता-गुरु सबके प्रति पारिवारिक सद्भावना देखी जा सकती है - जैसे - "भगवान आदित्य से बढ़कर सहारा दूसरा नहीं। उनकी कृपादृष्टि से सब अपने आप सम्पन्न हो जाता है, और उस कृपादृष्टि के लिए भइया उन्हें अपनी कर ही लेते हैं। तू बातों में भी काफी चतुर हो गया है। सभी को संतुष्ट रखना सीख गया है। बस, माँ! आप, पिताजी और भइया संतुष्ट बने रहें, बाकी लोगों को संतुष्ट रखना तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है।"[4] राजघरानों के अन्तर्संघर्ष सर्वत्र देखे जा सकते हैं। संयुक्त परिवार प्रथा के द्वारा व्यक्तिक सद्भावनाओं के द्वारा आत्मीय प्रेम और लगाव का वातावरण बना रहता था। व्यक्ति चाहे राजनीति से सम्बद्ध हो या धार्मिक सम्प्रदाय से किन्तु अपनी सामाजिकता के प्रति वह सदैव संदग्ध रहा है। जैसे - "शासन कर्त्तव्य वहन करने में तुम दोनों समर्थ भी हो। किसी भी शत्रु को राज्य-सीमा से खदेड़ बाहर कर सकते हो।"[5]

परिवार टूटते हैं, लेकिन शीघ्र जुड़ भी जाते हैं। मुसलमानों की अपेक्षाकृत हिन्दुओं में

पारिवारिक सौहार्दपूर्ण वातावरण अधिक संतुलित और व्यवस्थित था।

व्यक्ति अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों के प्रति सावधान था, कहीं भी विवाद को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। माँ-बाप अपने बेटों को युद्ध की प्रेरणा देते रहते थे, और साथ ही उनके कीर्ति व यश के लिए आशीर्वाद दिया करते थे, ताकि दीर्घकाल तक ज्यादा से ज्यादा सत्ता का भार उनके हाथों में रहे और वही सम्राट कहलाए - जैसे - "युग-युग जियो, बेटा हर्ष। सदा दूधो नहाओ और पूतो फलो। तुम्हारी यशःपताका दिग्दिगन्त तक फहराए। भू-मंडल पर कोई शत्रु शेष न रहे, अक्षय सुकीर्ति के स्वामी बनो।"[6]

स्त्रियाँ अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक मर्यादाओं में बंधी हुई थीं, पर्दा प्रथा रानी-महारानियों में भी था, तो निम्न और पिछड़ी जातियों में भी रहा था। राजा-महाराजा अपनी सुन्दर रानियों और महारानियों को रनिवासों या हरमों में बंद करके कड़ी सुरक्षित व्यवस्था बैठा देते थे, जिससे बाहर का आदमी उनके रुप-सौंदर्य के प्रति आकर्षित न हो सके। मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग पर्दा का प्रचलन इसलिए स्वीकार करते थे, जिससे राजाओं, सामंतों, सिपहसालारों, वजीरों और हाकिमों की नज़र उनकी औरतों पर न पड़े और उनके रुप व सौंदर्य से आकर्षित होकर ताक़त के बल पर वे उसे उठा न ले जाएँ।

आम-आदमी राजनीति और प्रशासनिक व्यवस्था से दूर रहकर अपना कार्य करता था। लोक-संस्कृति इस समय पर्याप्त संपन्न थी, और इसी से अनुप्राणित होकर उत्तरोत्तर लोक-साहित्य भी समृद्ध हुआ है। पारिवारिक संस्कारों के विशेष पर्वो पर मांगल्यसूचक लोकगीत गाए जाते थे, जिनमें गर्भाधन, फरई, पुत्र-जन्म, छठी, दशधान, मास-स्नान, चालीस दिवसीय नहान, नामकरण, अन्नप्रासन, चूडा-संस्कार, मुंडन संस्कार, यज्ञोपवित संस्कार, बटुकदीक्षा आयोजन, विवाह संस्कार, पितृऋण चुकाने के लिए संतानोत्पत्ति का आयोजन, पिता के द्वारा छोड़े गए अधिकारों को स्वीकार करते समय राज्याभिषेक, पदासीन पर्व जैसे आयोजन सम्पन्न होते थे,

और अन्त में मृत्यु के समय भी कुछ निश्चित सांस्कृतिक परम्पराओं का निर्वहन होता था।

वैसे तो सामान्य रुप से हिन्दू संस्कारों का लेखा-जोखा त्रिपाठी जी के उपन्यासों में यत्र-तत्र मिलता ही है, किन्तु चूँकि यह उपन्यास अधिकतर राजनीति और प्रशासनिक दरबारी संस्कृति से जुड़े हुए हैं, इसलिए इन उपन्यासों में अधिकांश एक अभिजात और कुलीन संस्कृति का दर्शन होता है। रोजमर्रा की जिन्दगी में राजा-महाराजाओं की अनुशासित मुद्राएँ और व्यवहार अत्यन्त औपचारिक परिवेश में परिलक्षित हुए हैं। जैसे - सुबह महाराजाधिराज को जगाने के लिए मंगल वाद्य बजाए जाते हैं, सुबह के राग की सांगेतिक स्वरलहरियाँ गूँजते हैं, और तब महाराज साहब शुभ और सरस वातावरण में ऑख खोलते हैं, उनके जागने के साथ ही समस्त कर्मचारीगण अपने-अपने कार्य में सतर्कता के साथ सक्रिय हो जाते हैं। अंर्तपुर और सेनागार में एक बाअदब अवास और सेवकों का दल इधर-उधर दौड़ता-भागता नज़र आता है। महाराजा साहब अब दंतधावन कर रहे हैं, या स्नानादि में प्रवृत्त हो रहे हैं, अथवा पूजा-पाठ हेतु निजी मंदिर में प्रविष्ट हो रहे हैं, तो इन सबसे सम्बन्धित सहायक उपकरण सम्पादित किए जाते हैं, और बिना किसी त्रुटि के सेवकों द्वारा समर्पित सेवाएँ सतर्कता के साथ प्रस्तुत की जाती है।

पारिवारिक परिवेश में भी यह औपचारिक व्यवहार की परम्परा निर्वाहित होती है, जिसमें छोटे भाई, पत्नी तथा बच्चे तक अदब और मर्यादा के साथ शिष्टता का पालन करते हुए अभिवादन करते हैं, और अपने नियत स्थान पर बैठकर ही कुछ संवाद स्थापित कर पाते हैं। परिकल या पारिवारिक वंशों की मर्यादा अलग है, तथा भृत्य एवम् नौकरों, दासों, चाकरों आदि की मर्यादाएँ अलग हैं।

राजा साहब जब अपने निजी कक्ष से बाहर आते हैं, तो छड़ीदार की बुलन्द आवाज़ उद्घोषित होती है - "खड़े खम्मा! गरीब निवाज़, प्रजा पालक, भक्त परायण, महाराजाधिराज श्री श्री विरेन्द्रसिंहजी पधार रहे हैं। सावधान! खबरदार!" आदि की घोषणाएँ समस्त परिकर को सतर्क कर देती है, अब महाराजा साहब राजसिंहासन पर किस दिशा में चढ़ेंगे, कैसे पालथी लगाकर बैठेंगे। सर्वप्रथम किसे सम्बोधित करेंगे, फरियाद सुनने का उनका समय क्या है,

सरदारों के साथ मंत्रणा करने का समय क्या है, वे मनोरंजन या साहित्य-श्रवण करने के लिए कब तैयार होंगे आदि पूर्व निर्धारित समय के अनुसार होता था।

'विकलांग' उपन्यास में त्रिपाठी जी ने आधुनिक समाज की विसंगतियों को व्यापक रुप से इंगित किया है। जब पृथ्वीराज और साँगा आपस में टकराते हैं, और युद्धोन्मादित होकर एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं, तब सारंगदेव मध्यस्था करते हुए कहते हैं - "यह क्या नादानी कर रहे हो! तुम एक ही पिता की सन्तान हो। एक-दूसरे की हत्या करने पर क्यों तुले हुए हो ? ये तलवारें भाई-भाई के लिए नहीं है। इनसे तो शत्रुओं के सिर काटने चाहिए। भ्रातृ-स्नेह को क्यों कलंकित कर रहे हो? जरा सोचो, विवेक से काम लो। राम-लक्ष्मण का पारस्परिक भ्रातृ-स्नेह स्मरण करो। भरत का त्याग मत विस्मरण करो। तुम लोग उसी देश की संतान हो। मातृ-भूमि की स्वतंत्रता तुम्हें पुकार रही है, देश शत्रुओं से अरक्षित है, उसकी रक्षा करो।"[7] प्रस्तुत संवाद आज की परिस्थितियों को इंगित करता हुआ आपसी वैमनस्यता और द्वैष के परिप्रेक्ष्य में शत्रुओं के कारगार षडयंत्रों की भूमिका भी स्पष्ट करता है। जहाँ हम लोग देश के बाह्य शत्रुओं का सामना तो कर नहीं पाते और स्वयं ही अपने आत्मीयजनों से लड़-लड़कर मर जाते हैं।

उपन्यासकार ने अपने हृदय की उदारवादी चेतना को व्यक्त करते हुए कहा है कि - "ईश्वर की दी हुई इतनी विशाल पृथ्वी पड़ी है, क्या हमें थोड़ा-सा स्थान न मिल सकेगा?"[8] यहाँ जब व्यक्ति निहित स्वार्थों के तहत भूमि के एक टुकड़े-टुकड़े पर संघर्ष कर रहा है, तो कथाकार 'वसुदैव कुटुम्बकम्' की उदात्त मनःस्थिति सामने रखते हैं। इस प्रकार कथाकार ऐतिहासिक पात्रों के संवाद के द्वारा भी आधुनिक परिस्थितियों को कथांकित करता है, जिससे कि उपन्यास की प्रासंगिकता सामने आती है। कथाकार ने अन्यत्र भी कुछ सूत्र वाक्यों में ऐसे संवाद प्रस्तुत किए हैं, जो आधुनिक परिवेश को इंगित करते हैं। जैसे - "भेष बदलकर किसी के राज से तो वाकिफ हुआ जा सकता है, मगर जंग फतह कभी नहीं की जा सकती। उसके

लिए, दुश्मन के राज से वाकिफ होना फतेहयाबी की पहली सीढ़ी है, भाई-जान। दुश्मन कितना चुस्त और चालाक है, उसका कौन बाजू कितना ताकत वर है, किस बाजू को कब और कैसे नाकाम किया जाए - इससे वाकिफ होने के बाद दुश्मन को शिकस्त देने में रह ही क्या जाता है।"[9]

इसी चर्चा को आगे बढाते हुए कथाकार अपना मंतव्य स्थापित करता हुआ कहता है - "शत्रु को परास्त करने के लिए शक्ति जितनी आवश्यक होती है, शत्रु के रहस्य से अवगत होना उससे कम महत्व नहीं रखता।"[10]

इसी प्रकार धँधेरे जैसे समुदायों के विषय में कथाकार की मान्यता आज के उग्रवाद को सामने रखती है। जैसे - "धंधेरे शक्तिशाली तो विशेष नहीं समझे जाते मगर उनकी धूर्तता के सामने बड़े-से बड़े प्रतिपक्षी को मुँह की खानी पड़ी है! वे कब क्या करते हैं - यह समझना बड़ी टेढी खीर होती है।"[11]

कथाकार इस धँधेरे जाति के प्रति उन असामाजिक तत्वों की विघटनकारी प्रवृत्तियों को सामने रखता है, जो समाज के पारिवारिक परिवेश को विरष्ट कर देते हैं। कहीं-कहीं कथाकार आपसी संवादों के माध्यम से बहुत दूर तक अपने अभिप्रेत को व्यक्त करते हुए आगे बढ़ता है, और प्रासंगिक परिवेश को जीवन्त बना देता हैं। वह कहते हैं - कुछ पड़ोसी शासकों की मानसिक विकृतियों का उपचार करना है। कई माह से गतिविधियाँ शान्त हैं। पड़ोसी शासकों को हमारे अस्तित्व तक के विषय में भ्रम हो गया है, उनकी मिथ्या भ्रम निवारण के लिए ससैन्य अनिवार्य है।"[12] कथाकार इन संवादों के द्वारा पाकिस्तान के साथ हमारे देशे के आंतरिक संबंधों को रेखांकित करता है। इस प्रकार प्रतीकों और संकेतों के माध्यम से कथाकार ने ऐतिहासिक भूमिका से संलग्न होते हुए भी अपने उपन्यासों की प्रासंगिकता को जीवंत बनाए रखा है।

कथाकार डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी ने कथा-प्रवाह में जहाँ भी प्रासंगिकता का निरुपण करना चाहा है, वहाँ कहीं भी कथाक्रम के प्रवाह में न तो अवरोध पैदा होता है, और न ही आरोपित अर्थ ध्वनित होता है, सीधी सादी भाषा में सहज और सरल तथ्यों में लेखक ने अपने अभिप्रेत को सार्थकता प्रदान की है। यही कारण है कि त्रिपाठी जी के उपन्यास इतिहास की दस्तावेजी धरोहर न बनकर आज के परिवेश को भी जीवन्त करने में सार्थक रहे हैं। उनके कथ्य या संवाद राजनैतिक भ्रष्टाचार, विदेश-नीति, पडोसी-राष्ट्रों से सम्बन्ध, सामाजिक विसंगतियाँ, टूटते परिवार और खंडित होती मानवीय आस्थाओं को व्यक्त करते हैं। विघटित होते नैतिक मूल्यों को तो कथाकार ने स्थान-स्थान पर रेखांकित किया है, किन्तु उसका मुख्य ध्येय ऐतिहासिक परिवेश के राजपरिवारों से सम्बद्ध महान् राजपरियारों की विकृत मानसिकता और उस परिवेश में व्याप्त षडयंत्रों की सडान्ध को व्यक्त करता है। यदि इन ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रासंगिक परिवेश को स्पर्श करने की क्षमता न होती तो यह ग्रन्थ इतिहास के कोरे दस्तावेज बनकर रह जाते। इन राजनीतिक उपन्यासों में व्यंग्य, कटाक्ष, विवेचनाएँ, आलोचनाएँ आदि अभिव्यक्त की गई हैं, ये प्रासंगिक स्तर पर बड़ी सार्थक भूमिका का निर्वाह करती है।

जैसा कि डॉ. त्रिपाठी ने अपने उपन्यास 'जहाँदारशाह' में उत्तर मुगलकालीन ऐतिहासिक परिवेश को चित्रित किया है। इसमें सम्राट जहाँदारशाह और उनके तीनों भाइयों के मध्य संघर्ष की कहानी को तथ्यों के द्वारा चित्रित किया है। इस उपन्यास की सारी घटनाएँ ऐतिहासिक हैं, परन्तु लेखक ने मध्य में कुछ प्रासंगिक तथ्यों को भी उजागर किया है। भाइयों के मध्य परस्पर ईर्ष्या-द्वेष की भावना और राजसिंहासन हासिल करने के लिए एक-दूसरे का कत्ल तक कर देना अपने-आप में सत्याभास कराता है। यदि आज के पारिवारिक परिवेश में हम देखें तो यह वात सही साबित होती नज़र आएगी। आज भी अपने हक के लिए भाई-भाई में परस्पर विद्रोह और संघर्ष रहता है। सभी अपने लाभ के विषय में सोचते हैं। जहाँदारशाह भी गद्दी हासिल करने के लिए अपने भाइयों का कत्ल करा देते हैं, ये सारे राजनीतिक दाँवपेच आज के वर्तमान युग में भी व्याप्त हैं। इस देश के राजनीतिज्ञों, नेताओं आदि ने अपनी गद्दी बचाने और दूसरों

की हासिल करने की ललक में अपनों का ही खून बहाया है। धर्म की भावना हर मनुष्य के मन में होती है। अक्सर लोग पूजापाठ, वन्दना, अर्चना आदि पवित्र कार्यों में मग्न रहते हैं। देवी के मंदिर में पूजा करना, मुस्लिम का दरगाह या मजार पर बंदगी करना अच्छे कार्यों में माना जाता है। एक स्थान पर लेखक ने जहाँदारशाह को संतान की अभिलाषा में भटकते हुए बताया है। उसका शाहजहाँनाबाद से छः मील दूर जाकर चिराग जलाना, दिल्ली के एक गाँव में शेख सीरुद्दीनशाह की कब्र के पास तालाब में प्राकृतिक अवस्था में स्नान करना प्रासंगिक है। संतान-प्राप्ति के लिए उस युग में भी लोग इसी तरह की दुआ माँगते थे, आज भी यह तथ्य सत्य है, सन्तान-प्राप्ति ही नहीं बल्कि गृहशान्ति और अन्य दुःखों-तकलीफों के लिए आज भी लोग मंदिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों, गुरुद्वारों आदि में जाकर पूजा-अर्चना करते हैं। डॉ. त्रिपाठी अपनी रचनाओं में ऐसे प्रसंगों को विशेष स्थान देते हैं, जो वर्तमान युग में भी प्रासंगिकता का, यथार्थ का बोध कराते हैं।

मानव सामाजिक प्राणी है, इसलिए वह समाज से सतत् जुड़ा रहता है, और उसकी गति के अनुरुप ही अपनी गति को प्रवहमान बनाए रखता है। समय के सम्बन्ध में मानव कब क्या सोचता है, वह स्वयं भी जान नहीं पाता। और इसी के कारण उसे भ्रम या धोखे का शिकार होना पड़ता है। शांति का चिराभिलाषी मानव अक्सर अशान्त बना रहता है, और हाथ पर हाथ रखकर बैठना उसे अच्छा नहीं लगता। निरन्तर सक्रिय रहने में ही उसे विश्वास है। विश्वास का यही बल उसका अपना पौरुष है, जो उसे सतत् सक्रियता प्रदान करता रहता है। वैसे, तो मनुष्य अकेले ही इस दुनिया में जन्म लेता है, और मर जाता है, किन्तु इसके बीच के समय को वह अकेले व्यतीत नहीं करता, बल्कि अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप में अधिक से अधिक लोगों को सम्मिलित रुप में देखना चाहता है, और इसीलिए मानव आए दिन पर्वो, त्यौहारों, कार्यक्रमों, उत्सवों, आयोजनों आदि के बहाने सामूहिक रुपों में घिरा रहता है। यही सारी प्रासंगिकताएँ हैं, जो मानव-जीवन के निर्माण में सहायक बनी रहती है, सक्रिय बनी रहती है, जिससे मानव का झुकाव कर्म की ओर होता है। डॉ. त्रिपाठी ने इस तथ्य को भी चित्रित किया है, कि जिज्ञासु, अनुसंधित्सु और क्रियाशील प्राणी मानव की आस्था विनाश की अपेक्षा निर्माण

में अधिक होती है, असफलता विकृत स्वरुप की परिचायक है, जबकि मानव विनिर्मित अतिरिक्त संसार मानवीय क्रियामाण शक्ति की सफलता का प्रतीक होता है।

'जहाँदारशाह' में लेखक एक मूल सत्य की घोषणा किए बिना नहीं रहता कि जीवन कर्म से चलता है, और सेवा से उन्नति को प्राप्त करता है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, कि कर्म ही मनुष्य को सफल बनाता है। जैसी कर्त्तव्य-परायणता की आज हरेक को आवश्यकता है, वैसी ही उस युग में भी थी, जब जहाँदारशाह जैसे शासकों का शासन चल रहा था। यह बात भी सत्य का आभास कराती है, और प्रासंगिक भी है, कि औरंगजेब जैसे कर्त्तव्य-परायण शासक के उत्तराधिकारी अपनी विलासिता के कारण ही मुगल शासन के पतन का कारण सिद्ध हुए थे। समय की परवाह न करने वालों का यही हाल होता है। समय सबसे अमूल्य निधि है, और लेखक ने इसी तथ्य पर विशेष ज़ोर देते हुए कहा है, कि समय की आवश्यकता की उपेक्षा करने वाले प्राणियों का अन्त दुखद होता है। कुछ ऐसे ही शासकों के कारण हमारा भारत देश कमज़ोर हाथों की कठपुतली बना हुआ है। 'सोने की चिड़िया' कहलाने वाला आज एक उलझा हुआ विषय बना हुआ है, इसके शासक देश की परवाह न कर अपनी परवाह कर रहे हैं, और देश इन कमजोर हाथों से धीरे-धीरे छूटता चला जा रहा है। सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दी में तो भारतवर्ष राजनीतिक उथल-पुथल का शिकार था ही, परन्तु आज भी यह विकट स्थिति हर ओर व्याप्त है। ऐसी राजनीतिक उथल-पुथल के बीच लूट-खसोट के सिवाय और हो भी क्या सकता है, उस समय की दशा भी सोचनीय थी, और आज की स्थिति भी सोचनीय है।

जब हम भारतीय इतिहास के उन स्वर्णिम पृष्ठों को पलटते हैं, तो कई ऐसी अविस्मरणीय घटनाएँ एवं चरित्र हमारे सामने आते हैं, जिनकी गौरव गाथाएँ आज भी लोगों के जुबान पर हैं। राणा संग्राम सिंह भी उन्हीं वीर आत्माओं में से एक थे। जिनके जीवन की अप्रत्याशित वक्रताएँ, अदम्य साहस, अद्वितीय शौर्य और अतुलनीय रण-कौशल को लेखक ने अपने उपन्यास में कैद करने का एक छोटा और सफल प्रयास किया है। 'विकलांग' शीर्षक का यह उपन्यास भारत

के मध्यकालीन इतिहास के राजपूती जीवन का यथार्थपरक चित्र है। डॉ. त्रिपाठी ने ऐतिहासिक तथ्यों के संकलन के लिए अनेक ग्रन्थों का सहारा लिया, उनमें से गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा द्वारा रचित 'राजपूताने का इतिहास' और जेम्सटॉड के अविस्मरणीय ग्रन्थ 'एनेल्स एंड एंटीक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान'; 'वीर-विनोद'; हरिविलास ओझा द्वारा विरचित ग्रन्थ 'राणा-सांगा', 'बाबरनामा' आदि-आदि। इस औपन्यासिक कृति में भी लेखक ने कई प्रासंगिक पहलुओं को उजागर किया है। तत्कालीन हिन्दू और मुसलमान शासकों के पारस्परिक संबंधो पर प्रकाश डाला है। मध्यकाल में भी यह संघर्ष परस्पर एक-दूसरे पर हावी रहते थे। मुस्लिम शासकों ने हमेशा युद्धों के द्वारा हिन्दू शासकों को दबाने का ही प्रयास किया। सिकन्दर लोदी, इब्राहिम लोदी ने महाराणा संग्राम सिंह के साथ युद्ध किया, परन्तु राणा के कुशल रणकौशल के कारण उनकी हार भी हुई, परंतु भारत-विजय का सपना लिए आए बाबर के साथ युद्ध में राणा की पराजय हो जाती है, और साथ ही उसकी मृत्यु भी। बाबर ने यह युद्ध काफी प्रयासों के पश्चात् जीता, कुछ हिन्दू शासक राणा संग्रामसिंह का साथ छोड़कर मुगलों में शामिल हो गए और उनकी ओर से मिलकर अपने ही भाई-बन्धुओं का वध करने लगे। जैसा कि कहावत प्रसिद्ध है - 'घर का भेदी लंका ढाए' - इसी के चलते राणा संग्राम के आहत अवस्था में उन्हीं के स्वामिभक्त रसोइये ने उनको ज़हर देकर मार डाला।

भोग से त्याग श्रेष्ठ माना गया है, पर उससे भी अधिक श्रेष्ठ होती है - परसेवा। परसेवा की भावना से उत्प्रेरित प्राणी की कर्त्तव्यपरायणता उसे उदात्त मूल्यों से जोड़ती है, और वह आत्म-संकुचन की परिधि से ऊपर उठ जाता है। डॉ. त्रिपाठी के वक्तव्य में सम-सामयिक परिस्थितियों के प्रति सतर्क दृष्टि साफ होती है, जब वह पुरा-गाथाओं में भी प्रासंगिक कथ्यों को समिहित कर देते हैं।

"वैसे, प्रासंगिकता का प्रश्न प्रायः सभी कालावधियों के साहित्य पर लगाता जा रहा है, मध्यकालीन या उत्तर मध्यकालीन साहित्य को इसके लिए विशेषरुप से कुरेदा गया है। भक्तिकालीन या रीतिकालीन काव्यधारा की समाज सापेक्ष उपयोगिकता या उसकी अर्थवत्ता पर

प्रश्न चिह्न लगाया जाता रहा है। भक्तिकाव्य को कुछ समालोचकों ने पलायनवादी काव्य कहा है, जहाँ मनुष्य अपने सामाजिक सरोकार से टूटकर, पारिवारिक जिम्मेदारियों से हटकर भगवान की शरण में जाकर अपनी कापुरुषता का द्योतन कराता है, तथा अपनी अकर्मण्यता पर पर्दा डालता है। इसी प्रकार रीतिकालीन कवियों को समालोचकों ने चाटुकार, आडम्बरी, असत्यवाचक और दंभी कहा है।"[13]

"यह आक्षेप उनकी कलावादी उपलब्धियों पर खरा नहीं उतरता, हाँ, उपयोगितावादी दृष्टि से हम भले ही इसे नकार दें, समालोचकों ने ऐसे काव्य को मात्र मनोरंजक, विलासक और व्यभिचारी दृष्टि से गलित काव्य कहा है।"[14] यह बात किसी हद तक उचित भी है जब रीतिकालीन कवियों में नारी को मात्र भोग्यवस्तु ही समझकर उसका माँसल चित्रण किया है।

रीतिकालीन नायिका भेद, नखशिख वर्णन, काम की दशाएँ, ऋतु-वर्णन, बारहमासा या काव्यविवेचन जैसे विषय की कोई भी सार्थक या समाजोपयोगी भूमिका नहीं रही है। यही कारण है, कि वह बृहद साहित्य अपनी प्रासंगिकता सिद्ध न कर पाने के कारण मात्र विलासी मनोरंजन की सीमाओं में ही व्याख्यायित होता रहा है।

गद्य-विधा में उपन्यास-साहित्य की अपनी अलग पहचान है। इसका अपना अलग परिकर और परिवेश है। इसके अंतर्गत हम जिन पात्रों को अथवा जिन कथा-प्रसंगों को ग्रहण करते हैं, वे हमारे इर्द-गिर्द, आस-पास की जिन्दगी से सम्पृक्त होते हैं। कथानक समाज या परिवार के वृत्तांतर्गत ही रचित होता है। कथा-सूत्रों में सामाजिक विसंगतियाँ, दमन, शोषण, अन्याय, अनीति आदि के प्रसंग स्वाभावतः समावेशित होते हैं, और इन्हीं कोणों पर हम आधुनिक समाज एवं परिवार के मानदंडों के तहत उन्हें व्याख्यायित करते हैं।

डॉ. त्रिपाठी के अधिकांश उपन्यास साहित्य ऐतिह्य तथ्यों पर गठित हैं, किन्तु इन

इतिहास-कथाओं में समाज और परिवार की संलग्नता तो है ही, व्यक्ति समाज और राजनीति का अभिन्न अंग है, उसके क्रिया-कलापों में, घटनाओं में, संजोगों में यह सब समाविष्ट रहता है। वह सामाजिक प्राणी है, उसके व्यवहार-आचार में, पहनावे, खाने-पीने में, उठने-बैठने और विचार-विमर्श करने में उसकी सामाजिकता सामने आती है। इतिहास गाथाओं के पात्र भी आखिर मनुष्य ही हैं, संवेदनाओं के स्तर पर वह अपनी इसी सामाजिकता को एक नारा बना देता है, और उसी के तहत अपने आचरणों को स्पष्ट करता है। उसकी इसी सहज प्रवृत्ति ने उसके कथ्यों एवं प्रस्तुतियों को प्रासंगिक बना दिया है।

इतिहास अतीत का ऐसा कंकाल है, जिसकी अस्थियों की परिगणना और शरीर की उच्चता का बोध तो सम्भव है, किन्तु अवयवों का समय-बोध संभव नहीं है। ऐतिहासिक उपन्यासकार अतीत की ही मिट्टी को कल्पना रुपी जल से सींचकर अतीत के उस कंकाल में लगाया जाता है, और उसे गढ़ा जाता है, जिससे उसका एक ढाँचा तैयार हो जाता है, और फिर अन्त में उसे जीवंतता प्रदान कर देता है। ऐतिहासिक उपन्यास के निर्माण के सम्बन्ध में वाल्मीकि त्रिपाठी ने स्वयं कहा है कि - "सामान्यतः ऐतिहासिक उपन्यासकार सांस तो वर्तमान युग में लेता है, किन्तु मानसिक रुप से विचरण वह अतीत काल में करता है। कभी वर्तमान से अतीत, कभी अतीत से वर्तमान तक की मानसिक यात्रा उसे असंख्य बार करनी पड़ती है, और जब भी वह दोनों कालों के मध्य वैचारिक सम्बन्ध-सूत्र स्थापित कर पाता है, तभी ऐतिहासिक उपन्यास का निर्माण होता है। जब विनयकार ने जिस मानसिक यात्रा का उल्लेख किया है, उसमें अतीत और वर्तमान क्रमशः इतिहास और कल्पना के ही प्रतीक हैं।" (भूमिका से)

मानव मूलतः सम्पूर्ण सृष्टि में सर्वाधिक चेतना-सम्पन्न प्राणी माना जाता है, इसी अनुपम चेतना शक्ति के बल पर ही वह प्रगति के पथ पर अविरल अग्रसर होता है, और अत्याधुनिक स्वरुप को प्राप्त करता है। चेतना को सृष्टि का अनुपम वरदान स्वीकार किया गया है, वरना मानव भी अन्य प्राणियों की भाँति अपनी आदिकालीन स्थिति में साँसे भर ले

रहा होता और भरण-पोषण के लिए इधर-उधर मारा-मारा फिर रहा होता। सोच, क्रिया और फल की आकांक्षा ही मानव के भीतर व्याप्त चेतना को सक्रिय बनाए रखने में मदद करते हैं। मानव समाज का अभिन्न अंग होने के कारण लेखक सामाजिक रहन-सहन, रुचियाँ-रुढ़ियाँ, आचार-विचार, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों से प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रुप से न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित होता है। हर युग की अपनी कुछ अलग मान्यताएँ होती हैं, आदर्श होते हैं, जीवन-मूल्य होते हैं। यह बात प्रासंगिक है, कि प्राचीन युग में धर्म और मोक्ष को मूल्यों के रुप में महत्व दिया जाता था, जबकि अर्वाचीन युग में इसका रुप बदल गया, मात्र अर्थ और काम को मूल्यों के रुप में महत्व दिया गया। जीवन का बाह्य रुप ही नहीं बदला, बल्कि आंतरिक स्वरुप भी बदल गया। आधुनिक युग में धर्म का स्थान कार्य ने ले लिया है, और मोक्ष का काम ने।

वैज्ञानिक अनुसंधानों और नवीन आविष्कारों ने मानव-जीवन में कई परिवर्तन उत्पन्न कर दिए हैं, आज का मानव अपने जीने की शैली को पूरी तरह परिवर्तित कर चुका है। आवागमन के साधन तथा संचार साधनों की प्रचुरता और सुलभता के कारण मानव जीवन जीने की यह शैली आश्चर्यजनक किन्तु विश्वसनीय बन गई है। और परिवर्तन की यह गति इतनी तीव्र हो गई है, कि किसी भी बिन्दु विशेष पर उंगली रखना या दृष्टि रखना असम्भव है। सभ्यता का कौन-सा रुप संस्कृति के किस रुप में बदल जाएगा, यह सोच पाना तक कठिन हो रहा है। दो सभ्यताओं और संस्कृतियों के बीच टकराव के कारण उपस्थित हो रहे हैं। पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा यूरोपीय भौतिकवादी संस्कृति ऐसे ही क्रांतिकारी तत्व हैं, जो भारतीय सामंतवादी सभ्यता, धार्मिक-आध्यात्मिक, विश्वासमूलक दृष्टिकोण, सांस्कृतिक तत्व आदि इस सभ्यता से टकरा रहे हैं, जिन्हें स्वीकारना या नकारना के मध्य द्वंद्व उपस्थित हो जाता है।

डॉ. त्रिपाठी ने अपनी ऐतिहासिक रचनाओं में भारतीय इतिहास के कई कालों का उल्लेख किया है। उनमें निहित प्रासंगिक तथ्यों को भी उजागर किया है। मध्यकाल में भारत

का इतिहास अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। राजा और जन-मानस के मध्य स्वामी और सेवक का सम्बन्ध रहता था। जहाँ व्यक्ति होगा, वहाँ समाज तो होगा ही। उस समय भी व्यक्ति परिवार, पारिवारिक सम्बन्ध, जन्म, विवाह, मृत्यु तथा परंपरागत विश्वासों और मान्यताओं से संग्रन्थित था, और आज भी यही श्रृंखलाबद्ध मान्यताएँ चली आ रही हैं। डॉ. त्रिपाठी के 'प्रजाप्रिय प्रजेश' उपन्यास में ऐसे ही परिवार के सामाजिक स्वरुप को उल्लेखित किया है। दीर्घकाल से चली आ रही सामाजिक जीवन-यापन शैली का उल्लेख करते हुए लेखक स्वयं कहता है कि - "सेवाजनित आनंद से तृप्त होने वाले हैं ही कितने लोग! आज मानव अधिकार-सुख को ही सच्चा सुख मान बैठा है। प्रत्येक अधिक अधिकारोपभोग की कामना करता है। यह नहीं सोचता कि कर्त्तव्यरुपी वृक्ष में ही अधिकार रुपी फल लगते हैं। जब वृक्ष ही नहीं होगा तो फल कहाँ से आएंगे? चारों ओर अधिकारों की माँग का नारा लगाया जा रहा है। कर्त्तव्य पालन की क्षीण ध्वनि भी कभी कर्ण-कुहरों में प्रवेश नहीं करती है। अधिकार सुख में मानव इस सत्य को भूल बैठा है कि कर्त्तव्य-पालक अधिकारभोक्ता से महान होता है। संसार में महान पुरुषों की महानता का रहस्य कर्त्तव्य-पालन रहा है। उन्होंने अधिकारों की कामना कभी स्वप्न में भी नहीं की अधिकार तो कर्त्तव्य का अनुसरणकर्ता मात्र है। कर्त्तव्य वह चुम्बक है जिसकी ओर अधिकार स्वतः आकर्षित होते हैं। यही अधिकारों की माँग वर्तमान संघर्ष की जननी है। यदि हम चाहते हैं कि मानव-जीवन संघर्षहीन हो, शांत हो और कल्याणकारी हो तो अधिकारोपभोग की कामना को त्यागना होगा अन्यथा विनाशोन्मुख जन-जीवन की रक्षा असंभव है।"[15]

लेखक ने इस तथ्य को भी प्रासंगिक माना है, कि मानव का रुप चाहे सम्राट का हो, स्वामी का हो, शासक का हो, सेवक का हो या सैनिक का, सभी के मूल में सामाजिक चेतना होती है। जिस व्यक्ति विशेष के निर्माण में समाज का जितना योगदान होता है, वह समाज के प्रति उसी के अनुरुप कर्त्तव्य का पालन भी करता है, परंतु राजनीति-प्रधान समाज जहाँ होता है, वहाँ विलासिता अवश्य होती है। यह तथ्य आज भी प्रासंगिक बना है। सत्ता विलासिता को आकर्षित करती है, या स्वयं विलासिता सत्ता की ओर खिंचती है, यह कह पाना बहुत कठिन

है। सत्ता के मोह के कारण परिवार का अस्तित्व और उसके प्रति कर्त्तव्य की भावना को मानव भूल जाता है, सारी भावनाएँ विलुप्त हो जाती हैं। सत्ता के वशीभूत मानव की दृष्टि में कोई भी संबंध मायने नहीं रखता, उनके हृदय में किसी के लिए उत्सर्ग भाव नहीं होते, मात्र सत्ता-प्राप्ति ही जीवन का आदि और अंत बन जाता है, ऐसी भावनाओं से लिप्त मानव दूसरों के हाथों की कठपुतली बन जाता है।

वर्तमान युग में भी यह संघर्षकाल चला आ रहा है। आज का मानव औचित्य-अनौचित्य पर दृष्टि नहीं रखता। संघर्ष के दौरान उसकी दृष्टि में - पिता, भाई-बन्धु, चाचा, मामा आदि तक के सम्बन्ध नगण्य हो जाते हैं। संघर्ष के पूर्व जो अपने प्रतीत होते हैं, संघर्ष के पश्चात् वे ही इतने पराए लगने लगते हैं, कि रक्त के सम्बन्धों तक को मिटा देने में अपना कर्त्तव्य मान लेते हैं।

डॉ. त्रिपाठी का यह विश्वास है, कि जो धर्म विश्व-बन्धुत्व की भावना से अनुप्राणित होता है, वही धर्म सर्वश्रेष्ठ है, और मानव प्रेम, दया, उत्सर्ग, सेवा और सहिष्णुता आदि मानवीय भावनाओं से सम्प्रेरित गतिविधियाँ मानव धर्म की स्थापना के लिए पर्याप्त है। रचनाकार ने अपनी रचनाओं में हर युग विशेष को साकार रुप प्रदान किया है, जिसके कारण तद्युगीन चेतना भी सप्राण प्रतीत होती है। अपनी रचना 'दुरभि-सन्धि' में उन्होंने इस बात को प्रासंगिक माना है, कि वार्ता और विचारों के साथ ही नहीं, बल्कि परिस्थितियों और गतिविधियों के साथ भी समझौता करना स्वस्थ-जीवन-निर्माण के लिए जरुरी है। भारत-देश पहले की तरह आज भी विदेशी शासकों से मिला हुआ है। आजादी के पूर्व इन्हीं विदेशी शासकों ने भारतीयों का दमन व शोषण किया। कितने अत्याचार हुए, किन्तु फिर भी आज हम यह विदेश-नीति फिर से दोहरा रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यता को शौकिया-तौर पर अपना रहे हैं। यह सारी गतिविधियाँ जो उसी रुप में विद्यमान है, परंतु इसे अपनाने की नीति में जरुर फर्क आया है। पैसों का प्रलोभन देकर वह हमारे शासकों को अपनी कूटनीति के जाल में फँसा लेते थे। डॉ.त्रिपाठी ने अपनी रचनाओं में भी इसी सत्य को उजागर किया है। जैसे - "आज जो विदेशी इतने विशाल

साम्राज्य के स्वामी बने बैठे हैं, क्या कभी सोचा है कि यह किस बात का परिणाम है? पारस्परिक फूट और मतैक्य के अभाव का, समझौतावादी नीति की शून्यता का। कदाचित् कभी समस्त भारतीय शासक परस्पर विरोधों के साथ समझौता कर सकते, कदाचित् एक स्वर हो भारत की जय बोल पाते।"[16] इस विचारपूर्ण तथ्य से यह स्पष्ट वाणी निकलती है, कि हमारी वर्तमान दुर्दशा का मूल कारण पारस्परिक वैमनस्य और एकता का अभाव है, और आज के युग की यह माँग है, कि जब तक एक स्वर होकर भारतवासी भारत-माता की जय बोलने में समर्थ नहीं होते हैं, तब तक पराधीनता की बेड़ियाँ हमारे स्वतंत्र अस्तित्व का अपहरण करती रहेंगी।

भारतवर्ष स्थूल रुप से धर्म-प्रधान देश माना जाता है - 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के स्वरलहरियों से वायुमंडल को रह-रहकर निनादित किया जाता है। मानव-प्रेम और सद्भाव की परस्पर दुहाई दी जाती है, किन्तु अनादिकाल से भारतीय जन पारस्परिक कटुता और विद्वेष के शिकार हो रहे हैं। सेवा को धर्म का रुप मानने वालों की परसेवा में आस्था कभी रही ही नहीं, दुःख की भावना से अनुप्रेरित लोग दूसरों को दुःखी बनाने में ही संतोष की अनुभूति मानते हैं। किसी ने धनसंचित करने को धर्म की संज्ञा प्रदान की तो किसी ने अपनी दृष्टि परिवार व कुटुम्ब की उन्नति पर रखी। किसी ने सत्ता हथियाने के लिए धार्मिक विश्वास प्रकट किया तो किसी ने परिवेश पर मर मिटने को भाषणों तक ही सीमित रखा। इसी मूल धार्मिकता के अभाव के कारण यह परिणाम हमारे समक्ष आया कि भारतवासी कभी भी पूर्णरुप से विदेशी चंगुल से मुक्त नहीं रह सका। राजनीतिक दृष्टि से भले ही यदा-कदा स्वतंत्रता की अनुभूति की हो, किन्तु संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से हमने आज भी विदेशी दासता को गले लगाया है, और उसके समक्ष नतमस्तक होने पर भी गौरव की अनुभूति की है।

डॉ. त्रिपाठी ने अपनी रचना 'सम्राट अशोक' में तद्युगीन भारतीय समाज की प्रासंगिकता को उजागर किया है। भारत का ईसा का पूर्ण काल राजनैतिक दृष्टि से विश्रृंखलित तो था ही, सामाजिक दृष्टि से पर्याप्त असंगठित और बिखरा भी हुआ था। खींचतान, लूट-खसोट, मारामारी, छीना-छपटी का बोलबाला था। आज के इस युग में भी सभी कुछ मौजुद है, इनका

कारण जो उस युग में था, वही आज भी है – 'एकता और संगठन जैसी भावनाओं का निर्जीव हो जाना।' आशंका और सन्देह की दृष्टि से एक ही समाज के व्यक्ति एक-दूसरे को देखते हैं। एक ही पिता के पुत्रों के बीच में कितनी कटुता और वैमनस्यता सम्भव हो सकती है, इसका ज्वलंत रुप हमें 'सम्राट अशोक' जैसी रचना में प्राप्त होता है, और आज भी यही रुप हर परिवार, हर घर में हमें नजर आता है। वैसे, तो रक्त पिपासु प्राणी मानव आदिकाल से है, किन्तु रक्त सम्बन्धों तक को तिलांजलि देकर जब रक्त पिपासा जागृत हो उठती है, तब समाज का विघटित रुप सजीव हो उठता है।

डॉ. त्रिपाठी का मानना है, कि मानव-जीवन महत्वकांक्षाओं और क्षमताओं का अक्षय भंडार है। महत्वकांक्षा की ही बदौलत मानव ने अपने आदिकालीन स्वरुप से बढ़कर वर्तमान स्वरुप को धारण किया है, और इस आकांक्षा के साक्षात् होने में श्रम ने पर्याप्त सहायता की है। महत्वाकांक्षा ने मानव को श्रम करने के लिए विवश किया और श्रम ने इस आकांक्षा के अस्तित्व की रक्षा के लिए। इन दोनों तथ्यों के दर्शन डॉ. त्रिपाठी की रचनाओं में हर पृष्ठ पर किए जा सकते हैं। वर्तमान सामाजिक बुराइयों को लेखक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखता ही नहीं, बल्कि उसका उन्मूलन भी ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन द्वारा करता है। कोई भी बुराई समय विशेष की देन नहीं होती, अपितु जब भी वह उभरकर सामने आती है, तो वह बहुत समय पहले ही अपना अस्तित्व धारण कर चुकी होती है। लेखक वर्तमान भारत के पिछड़ेपन का कारण अतीतकालीन शासकों की अकर्मण्यता और उपेक्षा को मानते हैं।

वैसे तो डॉ. त्रिपाठी ने कथानक के अन्तर्गत पात्रों के माध्यम से तथा संवादों के द्वारा प्रासंगिक परिवेश को स्पर्श करने का यत्न किया है, किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से वाक्यों द्वारा इतर कथ्यों को ध्वनित करते हुए प्रासंगिक यथार्थ को इंगित करने की चेष्टा की है। जैसे –'सम्राट अशोक' में महाराज बिम्बसार उदरशूल से परेशान होते हैं, तब वे वैद्य से कहते हैं – "नहीं महाराज जी, ऐसी बात नहीं है। यह समय शूल है। इसकी अवधि

निश्चित है। अवधी बीतने पर इसका शमन स्वतः हो जाता है।...." प्रतिकार में वैद्यजी निराकरण करते हुए कहते हैं - "यह चिंताजन्य शूल है, किसी प्रकार की चिंता उत्पन्न हो गई होगी, उसने शूलरुप धारण कर लिया। महाराज जी! आप किसी भी प्रकार की चिंता न किया करें। सब प्रकार के साधनों से तो सम्पन्न हैं आप। संसार में जो कुछ भी उपलब्ध है, वह सब आपके ही आधीन तो है।"[17] इस प्रकार के संवादों के माध्यम से डॉ. त्रिपाठीने सम्प्रस्तुत समस्याओं और उनके निराकरणों को इंगित किया है। वह यह भी कहते हैं कि इस प्रकार की वेदनाजन्य समस्याएँ धन से समाप्त नहीं होती, साधनों से उनका शमन नहीं हो सकता। यह समस्याएँ वैचारिक संतुलन के द्वारा सुलझाई जा सकती है। यह त्रिपाठी जी ने संघर्ष और टकराव की स्थितियों का विरोध करते हुऐ वैचारिक समझौते के मानदंडों को महत्व दिया है। वैचारिक तनाव या राजनीतिक समस्याएँ शान्ति के साथ सुलझाई जा सकती हैं। एक स्थान पर राधागुप्त महाराज से कहते हैं, कि राजनीतिक जटिलताओं को सुलझाने के लिए न्याय और अन्याय के मानदंड अलग होते हैं, जो शासक होता है, वही राज्य का विधान सृष्टा होता है, और उसका मंतव्य ही न्याय की कसौटी बन जाता है। राधागुप्त कहते हैं - "किन्तु आप शासक हैं। शासन करने के लिए शासक को साम, दाम, दंड, भेद - सभी नीतियों का सहारा लेना पडता है।"[18] इसके प्रतिकार में महाराज कहते हैं - "हाँ, किन्तु भेद अंत में आता है। शासक इसे यदि अपनी नीति में प्रथम स्थान पर रख ले तो शेष तीनों नीतियों - साम, दाम और दंड की आवश्यकता ही न पड़े.... मैंने मन में संकल्प कर रखा है कि यदि शासक के रुप में प्रजा पालन का अवसर मुझे मिला तो मेरी नीति का मूल आधार होगा - राजा की निर्मात्री प्रजा है। राजा को प्रजा के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। कृति से कृतिकार सदा बड़ा होता है। बड़े के प्रति छोटे के मन में सदा सेवाभाव ही होना चाहिए। राजा का धर्म है प्रजा की सेवा और सेवा का अर्थ है शक्तिभर सुरक्षापूर्ण वातावरण की सृष्टि करना, घातक अथवा विनाशकारी तत्वों का समूल उन्मूलन करना। सज्जनों के प्रति सद्व्यवहार और दुष्टों का दमन-इसी नीति का आजीवन अनुसरण मेरे शासकीय स्वरुप का प्रयास होगा। शेष समय स्वतः साक्षी होगा।"[19]

वैसे तो डॉ. त्रिपाठी ने कथा-प्रवाह के अंतर्गत ही राजतंत्र की व्यवस्था के अनुरुप यह

कथ्य प्रस्तुत किया है, किन्तु आज के प्रजातान्त्रिक परिवेश में भी लोग द्वारा चयन किए गए प्रशासकों के प्रति भी यह एक आचारसंहिता निरुपित करते हैं। जो लोग प्रजा के द्वारा चुने जाकर प्रजा का ही शोषण करते हैं, उन्हें दमित और पीड़ित करते हैं, और अपने स्वार्थ की पूर्ति में संलग्न होकर भ्रष्टाचार को संलग्न करते हैं, ऐसे लोगों के हाथ में सत्ता की बागडोर नहीं होनी चाहिए। जिस प्रकार राजा प्रजापालक और प्रजा का संरक्षक होता है, उसी प्रकार जनतंत्र में भी नेता प्रजा का प्रतिनिधी और सेवक बनकर आता है। आज के जनतांत्रिक विद्रुप चेहरे के सामने यह एक क्रांतिकारी उद्घोष है, जहाँ जन प्रतिनिधी सामान्य जन की अवहेलना करता है।

जिस समय महाराजा बिम्बसार की तबीयत खराब होती है, और राजवैद्य उनसे निवेदन करता है, कि आप के पास पर्याप्त साधन और अनन्त सम्पत्ति है, आप इस धन के द्वारा कुछ भी उपलब्ध कर सकते हैं। महाराजा बिम्बसार इसका निषेध करते हैं, वे राजकोष के धन को प्रजा की अमानत मानते हैं, तथा उसमें से पारिश्रमिक के रुप में कुछ प्रतीकात्मक धनार्जन के लिए ही स्वयं को अधिकारी मानते हैं। आज के परिवेश में सांसदों, विधायकों एवं मंत्रियों में व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध यह एक मुहिम-सी तैयार की गई है, यहाँ जन-सामान्य के धन के दुरुपयोग और उसे रोकने की व्यवस्था के प्रति रोकने का ध्यान आकर्षित किया गया है।

इस प्रकार डॉ. त्रिपाठी ने राजतंत्र के माध्यम से यह कहने का यत्न किया है कि प्रजातांत्रिक व्यवस्था भी राजतंत्रीय जनहितैषी नीतियों का अनुगमन कर सकती है। जहाँ प्रजा राजा को भगवान के रुप में स्वीकारती है, और उसके आदेश को ही कानून मानने के लिए बाध्य होती है, वहाँ पर राजा के दुराचरणों तथा चरित्र हनन के अन्य संदर्भो को नज़रअंदाज कर देती है। वह उसे जनसामान्य से ऊपर खुदा की तरह स्थापित कर देती है। जैसे - "बीवी और औलाद होती है इन्सान के और बादशाह इन्सान नहीं होता। वह होता है खुदा और इन्सान के दरम्यान का शख्स जो रियाया के दुःख-दर्द का ख्याल रखता है खुदा की तरह और उन्हें गुनाहों की सजा देता है, बाप की तरह। जिल्लेइलाही दो नजरें रखते थे। एक बाप की और दूसरी वादशाह की।"[20]

चुँकि कथानक की देशकाल परिस्थितियॉ एक सर्वथा भिन्न प्रशासनिक व्यवस्था की ओर संकेत करती है, जिसमें राजतंत्रीय विधान के अंतर्गत राजा अनंत शक्तियों का प्राणी है, उसकी किसी भी नीति की कोई आलोचना नहीं कर सकता। उसके विचारों का कोई विरोध नहीं कर सकता। उसकी वाणी ही विधान होती है। वह राजसिंहासन पर हाथ में तलवार लेकर बैठता है, इससे सर्वथा इतर प्रजातांत्रिक परिवेश मानवीय सद्भावनाओं और सह-अस्तित्व पर आधारित है, जहॉ हरेक आदमी की प्रशासन में सीधी साझेदारी है।

डॉ. त्रिपाठी का मानना है कि मानव मूलतः प्रयत्नवान प्राणी है, और जो मानव प्रयत्न को अपना धर्म मानकर कर्त्तव्य की राह पर गतिमान रहता है, उसे उसकी इच्छा के अनुरुप सफलता की प्राप्ति भी होती है। व्यक्ति कितना भी अतीत में अपना मन रमाने का यत्न करे, परंतु वर्तमान में उपस्थित होने के कारण उसे स्वाभाविक रुप में जीना ही नहीं पड़ता, बल्कि तमाम समस्याओं से जूझना भी पड़ता है। वैसे तो समस्याएँ कई प्रकार की होती हैं, जैसे - क्षणिक, वैयक्तिक, क्षेत्रीय आदि। परंतु ये सभी ऐसी समस्याएँ हैं, जो कि रचनाकार के सशक्त मन-मस्तिष्क को अपनी ओर अभिमुख नहीं कर पाती। परंतु कुछ समस्याएँ अवश्य ऐसी होती हैं कि जिनसे पिंड छुड़ाने का प्रयत्न करो, उतना ही हमें वो घेर लेती हैं, अर्थात अपने नियंत्रण में ले लेती हैं। और यही समस्याएँ कुछ काल के लिए इतने सशक्त रुप में कृतिकार के मन-मस्तिप्क को आक्रान्त कर लेती हैं, कि जब तक रचनाकार इन्हें विश्लेषित कर अपनी धारणा के सॉचे के अनुरुप ढालकर कोई रचनात्मक स्वरुप नहीं दे देता तब तक उनसे पीछा नहीं छूट सकता। ऐसी ही विवशताओं के वशीभूत होने पर कतिपय रचनाओं का जन्म होता है, जिन्हें 'सामाजिक उपन्यास' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

डॉ. त्रिपाठी की रचना 'फिलहाल' उन मनःस्थितियों का दस्तावेज है, जो यथार्थ और अनुमान की संघर्षपूर्ण परिणति से प्रादुर्भूत होती है। लेखक ने कई ऐसे प्रासंगिक प्रश्नों को भी यहॉ उजागर किया है। यह रचना एक ऐसी अन्तर्यात्रा है जो अनुभूति से अभिव्यक्ति के अन्तर

को समाप्त कर मानव जीवन के आत्यंतिक लक्ष्य सुख-शान्ति की ओर अग्रसर करती है। लेखक ने इस रचना में शिक्षा-जगत् से जुड़ी ऐसी अन्यान्य समस्याओं का चित्रण किया है, जो मानव मन के स्वस्थ चित्र को प्रस्तुत करती है। कुछ ऐसी समस्याएँ वर्तमान युग में भी व्याप्त हैं। विद्यार्थी जीवन का विशद चित्रण और साथ ही विद्यालय के विभाग विशेष में शिक्षकों के मध्य उठा-पटक और खींचतान तो संभव ही है। डॉ. त्रिपाठी ने अपनी रचना 'शून्य' में शिक्षा के सम्बन्ध में आधुनिक स्वर को एक प्रासंगिक प्रश्न के रुप में उपस्थित किया है - "छात्रों को इस वैज्ञानिक युग में भी भेड-बकरी क्यों समझा जा रहा है ? उन्हें पुराने डंडे से क्यों हाँका जा रहा है? उन पर प्राचीन मान्यताएँ क्यों लादी जा रही हैं? जिस दृष्टिकोण को संसार का प्रत्येक विकसित देश अनुपयोगी और अहितकर समझकर त्याग चुका है, उसी को छात्रों पर क्यों थोपा जा रहा है? पीढ़ियों पुराना पाठ्यक्रम क्यों नहीं त्यागा जा रहा है? शिक्षण विधि में परिवर्तन क्यों संभव नहीं है? सरकारी सेवाजन्य परीक्षा-प्रणाली को संरक्षण क्यों दिया जा रहा है? प्राचीन अभावग्रस्त और संरक्षकविहीन छात्रों की भाँति ही आज के छात्र को क्यों समझा जा रहा है? बाल या युवा मनोविज्ञान की उपेक्षा क्यों की जा रही है? आधुनिक सुख-सुविधा भोगी शिक्षक क्यों चाहता है कि वर्तमान छात्र भी उन प्राचीन शिष्यों की भाँति श्रद्धा प्रकट करें जो निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते थे, और शिक्षक द्वारा संरक्षक के वात्सल्य के भागी बनते थे। आधुनिक जीवन-भोगी होकर प्राचीन अधिकार सुख-भोग की लालसा क्यों? जो समय के परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते, वे या तो पिछड़ जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं। आज आवश्यकता है परिवर्तन के प्रत्येक बिन्दु की उपयोगिता को अपने अनुकूल ढालने की न कि दुराग्रही बनकर अपरिहार्य परिवर्तन को नकारने की।"[21]

यह स्वर है शिक्षा में परिवर्तन की अपेक्षा जो आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य भी है। शिक्षा जगत् में फैले भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार आदि की धज्जियाँ लेखक ने उद्गारों द्वारा उडाई है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली भी इन्हीं भ्रष्ट व्यवस्था के बीच उलझी हुई है। यदि शिक्षा व्यवस्था युग की आवश्यकता के अनुरुप परिवर्तित हो जाए तो यह सामाजिक विसंगतियाँ अस्तित्व में आए ही नहीं। जीवन-निर्माण के लिए आधुनिक युग में जिस प्रकार के विद्यामंदिर

की हरेक को आवश्यकता है, उसी के व्यावहारिक रुप को डॉ. त्रिपाठी ने अपनी रचना में विस्तृत स्वरुप प्रदान किया है। जैसे "शून्य एक ऐसी सांस्कृतिक संस्था है जो मानवीय विचारों, शाश्वत एवं सामयिक मूल्यों, स्वस्थ परम्पराओं, अद्भुत उत्सर्गों, भौतिक उपलब्धियों के परिपार्श्व में सन्निहित आदर्शों को व्याख्यायित ही नहीं करती, वरन् मानव जीवन के बहुमुखी विकास को रेखांकित कर भावी दिशा का स्वस्थ निर्देश करती है।"[22]

डॉ. त्रिपाठी की कई रचनाएँ ऐसी हैं, जो व्यावहारिक जीवन के हर पहलू का उद्घाटन ही नहीं करतीं, बल्कि पारस्परिक संबंधों को कई रुपों में चित्रित भी करती है। आज संसार में ऐसा कौन है, जिसे किसी न किसी से कोई-न-कोई शिकायत न हो। शिकायत आज प्रासंगिक है। लेखक ने अपनी रचना 'शिकायत' को एक सार्वभौमिक रुप में भी चित्रित किया है, और साथ ही इसे युग-चेतना का स्वर भी माना है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और सामाजिक व्यवहार के अभाव में वह जीवित नहीं रह सकता। सभ्यता के विकास के साथ ज्यों-ज्यों मानव वौद्धिक दृष्टि से सवलतर होता जा रहा है, त्यों-त्यों किसी भी स्थिति को जाने-समझे बगैर स्वीकारने में असमर्थ होता जा रहा है। वैसे तो मानव प्राकृतिक सहजता से कोसों दूर जा चुका है, फिर भी कृत्रिमता के सहज रुप को पूर्णरुप से अपना नहीं पा रहा है, क्योंकि जिज्ञासा रुपी प्रश्न चिह्न शिकायत वनकर उसे पग-पग पर सावधान बनाने के लिए उपस्थित है।

आधुनिक युग में एक ऐसी समस्या से हर व्यक्ति त्रस्त है, कि 'जिएँ तो जिएँ कैसे' क्योंकि जीने के साधन सीमित और परम्परागत हैं, तथा दृष्टि भी सुनिश्चित है। इसी बात को लेखक ने प्रासंगिकता के रुप में अपनी रचना 'जिएं तो जिएं कैसे' मे चित्रित की है। यह समस्या बड़ी ही प्रासंगिक है, क्योंकि आज के वर्तमान युग में नित नवीन ऐसी उपलब्धियों के दर्शन होते हैं, जो हमारे मन-मस्तिष्क को विचलित कर देते हैं। साधनों की कमी के कारण मानव ऐसी वस्तुओं को आसानी से ग्रहण नहीं कर पाता, जिसके कारण अभावग्रस्तता जन्य बेचैनी मानव को घेर लेती है, और वह इस सुख से वंचित हो जाता है, और फिर वही समस्या उठ खड़ी होती है कि जिएं तो

जिएं कैसे। नित नवीनता का इच्छुक मानव असंतोष का शिकार बना रहने की वजह से संचित सुख से भी वंचित बना रहता है, बल्कि वह सुख उसकी क्षमता के भीतर होती है।

भ्रष्टाचार आज के युग में इतना प्रासंगिक है कि डॉ. त्रिपाठी ने इस विषय को लेकर एक रचना का रुप दे दिया, और इस रचना का शीर्षक भी उन्होंने 'भ्रष्टाचार' ही रखा। डॉ. त्रिपाठी की यह रचना भ्रष्टाचार के उन तमाम स्वरुपों को व्याख्यायित करती है, जो आधुनिक युग की ही देन नहीं है, अपितु सार्वकालीन और सार्वभौमिक सत्य को भी प्रस्तुत करती है, जिसे अनुभूतिगत सीमा के अंतर्गत मानव ने सदा प्रचलन के रुप में पाया है। 'भ्रष्टाचार' के सम्बन्ध में लेखक ने 'आग्रह' में ही स्पष्ट किया है – "भ्रष्टाचार कुछ भी नहीं है और सब कुछ में है, भ्रष्टाचार की अनुभूति के लिए मात्र आवश्यकता होती है अनुकूलता-प्रतिकूलता के मध्य की मनःस्थिति की। अनुकूलता यदि विवशता है तो भ्रष्टाचार सशक्त साधन प्रतीत होता है और यदि प्रतिकूलता आभाषित होती है तो भ्रष्टाचार हर दृष्टि से निन्दनीय और अहितकारी अनुभव होता है।"[23]

'भ्रष्टाचार' स्वयं अपनी व्याख्या विशद् रुप में करता है। जैसे "भ्रष्टाचार दो शब्दों से मिलकर बना है भ्रष्ट और आचार। आचार का अभिप्राय है आचरण। जब किसी का आचरण भ्रष्ट अर्थात् दूषित हो जाता है, तब अस्तित्व में आता है भ्रष्टाचार। यह अर्थ तो ध्वनित होता है शाब्दिक व्युत्पत्ति के द्वारा। यदि तनिक भी इसकी गहराई में उतरेंगे तो निश्चित ही इसका अभिप्राय समय सापेक्ष ही सिद्ध होगा। चिन्तकों और मनीषियों के द्वारा मानव-जीवन के चार प्रधान पुरुषार्थ माने गए हैं – अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। और चारों ही युगों की कल्पना भी की गई है – सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग। समय की शक्ति के समक्ष तो सभी नतमस्तक होते हैं। समय के संकेत रुप युगों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। हाँ, पुरुषार्थो के क्रम को यदि हम उलट दें तो युगों के साथ इनकी संगति सटीक बैठ सकती है अर्थात् यह हम सतयुग के साथ मोक्ष को, त्रेता के साथ काम को, द्वापर के साथ धर्म को और कलयुग के साथ अर्थ को संबंधित कर व्याख्यायित कर लें तो भ्रष्टाचार के मूल स्वर को सहज

रुप में ग्रहण किया जा सकता है।..... अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की चौकडी में पारस्परिक संघर्ष तक को कितना भ्रष्ट कर दिया है कि वह भ्रष्टाचार के रुप में प्रकट हो चुका है। चारों पुरुषार्थ तो परस्पर टकराए ही। मानव ने नवीन आविष्कारों, मुद्रण और दूरदर्शन की सहायता से पूर्ववर्ती तीनों युगों को भी वर्तमान युग में एक साथ उपस्थित कर दिखाया है। फलतः चारों पुरुषार्थों की भाँति चारों युग भी ऐसे त्रड्ड-बड्ड हो गए हैं कि सब भ्रष्ट प्रतीत होने लगा है और यह प्रतीत वाणी के सहारे ध्वनित हो उठती है भ्रष्टाचार के रुप में।.... भ्रष्टाचार है समय के विक्षुब्ध मन का प्रकट रुप।.... मानव सतत् चेष्टारत है, भ्रष्टाचार को पहचानने और समझने के लिए, किन्तु जब तक वह समझ के सहारे भ्रष्टाचार के किसी रुप विशेष से अवगत हो पाता है, तव तक भ्रष्टाचार असंख्य ऐसे रुपों में उपस्थित हो चुका होता है, जो मानव के ध्यानाकर्षण के लिए पर्याप्त होते हैं। मानव और भ्रष्टाचार के बीच चूहा-बिल्ली की दौड़ का यह खेल इतने व्यापक और गहन रुप में चल रहा है कि जब तक मानव का अस्तित्व है तब तक यह यों ही चलता रहेगा।.... भ्रष्टाचार अस्तित्व धारण करते ही गतिमान हो उठता है। समय के निर्बाध संरक्षण में यह दिन दूना रात चौगुना फूलता-फलता है। इसकी गति वृद्धि मुखी होने के साथ-साथ अन्तर्मुखी भी होती है। इसकी जड़ों की गहराई तक पहुँच पाना मुश्किल होता है। मानवीय गति इसके सामने पानी भरती है।... भ्रष्टाचार का साम्राज्य बड़ा व्यापक होता है। समय की भाँति इसकी सीमाएँ भी अनन्त हैं।... तम और प्रकाश दोनों ही इसके ऐसे अनुचर हैं, जो अनुकूल या प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों में सदा सहचर रुप में विचरण करते हैं।.... भ्रष्टाचार के पोषक तत्व हैं - महत्वाकांक्षा, समयाभाव और साधन विहीनता और इसके आज्ञाकारी स्वामिभक्त अनुचर हैं - द्वेष, संताप, कुदृष्टि, ईर्ष्या, कपट, छल, गोपनीयता, तिकड़म, प्रवंचना, स्वार्थान्धता और निष्क्रियता आदि।.... अदृश्य रुप में अस्तित्वधारी भ्रष्टाचार जब परिस्थितिवश प्रकट हो उठता है तब मानव इसकी सत्ता की अनुभूति कर पाता है।.... असमर्थता की अनुभूति से प्रताड़ित महत्वकांक्षी मानव जब किसी आवश्यकता विशेष से वशीभूत होकर भ्रष्टाचार की शरण में चला जाता है तब उसके मन-मस्तिष्क में यह विश्वास घर कर जाता है कि उसकी सफलता सुनिश्चित है। इस लोक से परलोक तक की यात्रा करने में सक्षम भ्रष्टाचार हर असंभव सोच को संभव रुप में परिणत किया करता है। भ्रष्टाचार के सहारे पलक झपकते ही मानव रंक

से राजा और सर्व समर्थ से सर्वथा असमर्थ बन जाता है। सामयिक सफलता भ्रष्टाचार के संकेत पर नर्तन करती दिखाई देती है ..... असत्य को सत्य सिद्ध करना, विगत को आगत के रुप में परिणित करना, अदृश्य को दृश्य रुप में प्रकट करना, दीर्घकालीन को अल्पकालीन बनाना, अल्पज्ञ को सर्वज्ञा सिद्ध करना, मूक को वाचाल से अधिक मुखर होने की प्रतीति कराना, पंगु को गिरि लांघने के लिए सक्षम बनाना, मूर्ख को पंडित के पद पर प्रतिष्ठित कराना, दुराचारी, अन्यायी और अपराधी को सदाचारी, न्यायी और निर्दोष रुप में आदर का सत्पात्र बनाना, क्रियात्मकता को विचारों के अंक में सुलाना, निर्जीव को सजीव से अधिक उपयोगी बनाना तथा मानव को भगवान की कोटि में ला बिठाना तो भ्रष्टाचार के बाँए हाथ का खेल है।.... परम्परागत अंधविश्वासों की श्रृंखलाओं में जकड़े मानव को उन्मुक्तता का एहसास कराना भ्रष्टाचार का धर्म होता है।.... बालू में भी दूब उगाने की क्षमता भ्रष्टाचार से होती है।.... जहाँ जीवन है वहाँ भ्रष्टाचार है, जहॉ गति है, विकास है, लालसा, आकांक्षा है वहाँ भ्रष्टाचार है।.... भ्रष्टाचार समझ का मापदंड होता है।.... भ्रष्टाचार अपना रास्ता स्वयं बनाता है।.... भ्रष्टाचार की गति परिवर्तनशील होती है।.... भ्रष्टाचार धरती का गतिमान भगवान है।.... भ्रष्टाचार से बडा सत्य संसार में दूसरा नहीं है। जो भी परिणाममूलक गतिविधियाँ हैं सब भ्रष्टाचार की ही देन हैं।.... भ्रष्टाचार संसार भर में प्रसिद्ध सम्बोधन है।"[24]

भ्रष्टाचार आज इस प्रकार समाज में व्याप्त है जैसे - धमनियों में रक्त। प्रजातंत्र राज्य में प्रजा पर शासन करने वाले राजनीतिज्ञ यदि भ्रष्टाचार में लिप्त हों तो देश का कल्याण होना असंभव है। एक ऐसा ही उदाहरण जो आज प्रासंगिक रुप में हम सभी के सामने मौजूद है, कि आम जनता सरकारी दफ्तरों में अपना कार्य करवाने के लिए भ्रष्ट अधिकारियों को सहयोग देती है, जबकि ऐसे ही भ्रष्ट अधिकारियों के खिलाफ शिकायत दर्ज करनी चाहिए और इन कार्य-प्रणाली की जटिलताओं को समाप्त करना चाहिए।

डॉ. त्रिपाठी ने अपनी रचना में भ्रष्टाचार से संबंधित सभी विचारों, मान्यताओं और व्यावहारिक सत्यों को उद्घाटित ही नहीं किया है, वरन् भ्रष्टाचार से मुक्त होने के उपायों की ओर दिशा-निर्देश प्रस्तुत करते हुए कहा है, कि इस भ्रष्टाचार से हमें तभी मुक्ति मिल सकती है, जब हमारे देश का हर नागरिक सतर्क और जागरुक बने।

डॉ. त्रिपाठी ने राजतंत्रीय अधिनायकवादी व्यवस्था के अंतर्गत भी मानवीय संवेदनाओं के द्वार खटखटाते हुए उन मध्यकालीन कथांशों को आधुनिक संदर्भो में व्याख्यायित करने का यत्न किया है। भारत जैसे विशाल भूखण्ड पर जो अनगिनत घटनाएँ घटीं, उन सभी स्थितियों का दर्शन जो भारतीय इतिहास में पग-पग पर किए जा सकते हैं, इन्हीं के अस्तित्व को डॉ. त्रिपाठी ने अपनी रचनाओं में प्रासंगिक रुप में दर्शाया है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति जिसे बडा गौरव प्रदान किया जाता है, विश्व की सभ्यता और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित करते हुए डॉ. त्रिपाठी मानते हैं कि 'प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति मात्र विचारों तक ही सीमित रह गई है। व्यावहारिक दृष्टि से जीवन का प्रत्येक कोना पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के अनुरुप आचरण करने वालों के संबंध में यहाँ तक कह दिया जाता है कि वे पिछड़े हुए लोग हैं। समय के सहगामी थे नहीं बन सके हैं विशेष रुप से भारतीय राभ्यता और संस्कृति मुस्लिम और पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के सान्निध्य में आकर इस सीमा तक प्रभावित हो चुकी है कि उसे खोजने का प्रयास करना पड़ता हैं।'

अंत में, उनके अधिकांश उपन्यासों में प्रसंगवश ऐसे प्रासंगिक प्रश्न सहज ही मिल जाते हैं, जो मध्यकालीन परिवेश से उठकर आधुनिक व्यवस्था को इंगित करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है, कि डॉ. त्रिपाठी के कथा-साहित्य में प्रासंगिक संदर्भो का निरुपण बड़ी कुशलता के साथ हुआ है।

सन्दर्भ – सूची

1. सत्ता और संघर्ष – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 8
2. महाराज – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 53
3. वही – पृष्ठ – 57
4. वही – पृष्ठ – 58
5. वही – पृष्ठ – 54
6. वही – पृष्ठ – 55
7. विकलांग – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 63
8. वही – पृष्ठ – 88
9. दुरभि–सन्धि – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 78
10. वही – पृष्ठ – 78
11. वही – पृष्ठ – 78
12. वही – पृष्ठ – 129
13. देखिये – हिन्दी साहित्य – डॉ. कृष्णलाल हंस – पृष्ठ – 324
14. देखिये – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास –डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त पृष्ठ – 232
15. प्रजाप्रिय प्रजेश–डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 32-33
16. दुरभि–सन्धि – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 368
17. सम्राट अशोक – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 95
18. वही – पृष्ठ – 105
19. वही – पृष्ठ – 105
20. एक और बेगम – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 33
21. शून्य – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी– पृष्ठ – 17
22. वही – पृष्ठ – 59
23. भ्रष्टाचार – डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी – पृष्ठ – 4
24. वही – पृष्ठ – 6-35